मोक्ष महलकी परथम सीढ़ी
समकित

नीरज जैन, सतना

अनादि कालीन संसार परिभ्रमणके घनघोर अन्धकारमें भटकते हुए भव्य जीवके लिए, सम्यग्दर्शन प्रकाशकी प्रथम किरण है। यह भव-भ्रमण के अपार-पारावारमें निमग्न, निराश्रित और निराश पथिकके लिए दिशा-सूचक ज्योति स्तम्भ है। ऐसा अति दुर्लभ सम्यग्दर्शन जिन्हें उपलब्ध हो गया है वे प्रणम्य हैं। "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" के विख्यात सूत्र द्वारा सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी एकताको ही मोक्ष मार्ग कहा गया है। इनके विपरीत, समन्तभद्रने मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रको संसारका मार्ग निरूपित किया है (रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ३)।

तथापि मोक्ष मार्गकी प्राप्तिके लिए इन तीनोंमें भी सम्यग्दर्शनकी विशेषता आचार्योंने स्वीकार की है। स्वामी समन्तभद्रने सम्यग्दर्शनको मोक्ष मार्गमें कर्णधार घोषित किया (श्लोक ३१)। इसी प्रकार कुन्दकुन्द आगमके प्रवक्ता टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्रने अपने ग्रन्थ 'पुरुषार्थसिद्धिचुपाय' (श्लोक २१) में सम्यग्दर्शनकी महिमा स्थापित करते हुये लिखा है कि इन तीनोंमें प्रथम, समस्त प्रकारके उपायोंसे सम्यग्दर्शन भले प्रकार अंगीकार करना चाहिये, क्योंकि इसके होते हुए ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होता है।

संसार सागरसे मोक्षके लिए ऐसे खेवटिया सम्यग्दर्शनकी महिमा अनेक ग्रन्थोंमें गाई गई है। रत्नकरण्ड श्रावकाचारकी टीका की प्रस्तावनाके रूपमें श्रीमान् पंडित पन्नालाल जी साहित्याचार्यने सम्यग्दर्शनके सम्बन्धमें बहुविध विचार किया है। संस्कृत साहित्यकी बात मैं नहीं जानता, परन्तु हिन्दीमें इसके पूर्व, सम्यग्दर्शन पर इतना विश्लेषणात्मक लेखन एक साथ कहीं देखनेको नहीं मिला था। इसमें पण्डितजीने चारों अनुयोगोंकी कथनकी अपेक्षा भी सम्यग्दर्शन पर विचार किया है।

दिगम्बर जैन प्रबुद्ध समाजमें 'सम्यग्दर्शन' ही आज सबसे अधिक चर्चित विषय है। सम्यग्दृष्टि जीवकी उपलब्धियाँ क्या-क्या हैं? उसके कौन-कौनसे विकार दूर हो गये हैं? उसे अपनी यह स्थिति बनाये रखनेके लिए क्या-क्या करणीय है? आदि आदि प्रश्नों पर समाजमें और समाचार पत्रोंमें प्रायः चर्चा चलती रहती है। सम्यग्दृष्टि जीवकी वीतरागता, उसका चारित्र, उसकी अबन्धक दशा और उसकी आत्मानुभूतिके प्रश्नको लेकर प्रायः खींचतान भी होती रहती है।

इस निबन्ध में इन्हीं बातों पर विचार किया जायेगा।

विचार करनेके लिए यदि हम शास्त्रोंका वर्गीकरण करें, तो हमें पता लगता है कि सम्यग्दृष्टि जीव और उसकी उपलब्धियोंको लेकर एक तो हमारे पास निर्ग्रन्थ मुनिराजों और आचार्यों द्वारा प्रणीत परम्परा है। इस परम्परामें, निर्ग्रन्थ अवस्थासे पहिले तक, सम्यग्दृष्टि को, न तो शुद्धात्मानुभूतिसे युक्त मानते हैं, न शुद्धोपयोगी मानते हैं, न ही उसमें रत्नत्रयका प्रारम्भ मानते हैं, और न ही उसे सिद्धके समान अबन्धक कहते हैं। आचार्योंकी इस परम्परामें भगवान् कुन्दकुन्द, आचार्य समन्तभद्र, पूज्यपाद, अमृतचन्द्र, जयसेन, जिनसेन आदिके नाम गिनाये जा सकते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दृष्टि जीवके गुणगानमें दूसरी परम्परा, गृहस्थ ग्रन्थकारों की है। इस परम्परामें पञ्चाध्यायी प्रणेता पण्डित राजमलजी (ई० १५४६-१६०४), आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल जी, गुरुवर्य पण्डित गोपालदासजी वरैया, कविवर बनारसीदासजी आदि हैं। इन ग्रन्थकारोंने सम्यग्दृष्टिको वीतराग परिणति संयुक्त शुद्धोपयोगी, अबन्धक और रत्नत्रय-धारी भी किसी अपेक्षासे माना है।

यह 'छोटे मुँह बड़ी बात' हो सकती है, परन्तु जितना ही मैं आज समाजमें प्रचलित, एकांगी और विवक्षा-रहित धारणाओंको सुनने-समझने की कोशिश करता हूँ, उतना ही मुझे ग्रन्थकारोंका यह वर्गीकरण विचारणीय और महत्वपूर्ण लगता है। यद्यपि पण्डित दौलतरामजी और बाबा गणेशप्रसाद जी वर्णी जैसे विचारकोंकी संख्या भी कम नहीं है जिन्होंने आचार्य प्रणीत, आर्ष और चारों अनुयोगोंसे समर्थित परम्परा को ही अपनी लेखनी द्वारा प्रतिपादित किया, और इस प्रकार उचित अपेक्षा पूर्वक वस्तुस्वरूपका कथन करके स्याद्वादकी प्रतिष्ठा की है।

मेरा यह मन्तव्य कदापि नहीं है कि उपरोक्त गृहस्थ ग्रन्थकारोंने शास्त्र-विरुद्ध या अवास्तविक प्ररूपणा की है, परन्तु ऐसा लगता है कि या तो उन्होंने हमारी बुद्धिपर भरोसा करके, हर जगह अपनी विवक्षा को स्पष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं समझी या फिर कहीं-कहीं हम ही उनकी विवक्षाको पकड़नेमें चूक कर रहे हैं।

उपरोक्त गृहस्थ ग्रन्थकारोंके 'पञ्चाध्यायी' और 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' ये दो ही प्रमुख ग्रन्थ हैं। एक दुर्भाग्य यह भी रहा है कि ये दोनों ही ग्रन्थ अधूरे एवं अपूर्ण हैं। दोनों ग्रन्थकार जिनवाणीकी पावन धारा में आकण्ठ अवगाह कर रहे थे। दोनोंने अपनी अद्भुत कथन-क्षमता और अगाध ज्ञान लेकर, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र पर संकल्प पूर्वक लेखनी उठाई थी और उनका बहुत समृद्ध, सांगोपांग वर्णन करनेका प्रयास प्रारम्भ किया था, परन्तु दोनोंका कार्य ऐसी मझधारमें अधूरा छूट गया कि अकेले सम्यग्दर्शनका भी पूरा गुणगान उनकी लेखनीसे प्रसूत न हो पाया। फिर भी, सम्यकत्वके विषयमें दोनों ही विद्वानोंने जितनी सूक्ष्मतासे, जैसी विलक्षणता पूर्वक, विपुल सामग्री प्रस्तुत की है, इससे अनुमान किया जा सकता है कि यदि उनकी लेखनी ज्ञान और चरित्र पर भी चल पाती तो हमें रत्नत्रयकी अत्यन्त सुगम, अत्यन्त सरल और अत्यन्त सांगोपांग, तर्क-पूर्ण व्याख्या प्राप्त हो गई होती। हमारा दुर्भाग्य था कि ऐसा नहीं हो पाया।

कई बार ऐसा लगता है कि इन गृहस्थ ग्रन्थकारोंने सम्यग्दर्शनका महत्व प्रतिपादन करते हुए, अपनी श्रेणीके अव्रती सम्यग्दृष्टियोंके प्रति कुछ अधिक ही उदारता दिखाई है। इस समझका प्रतिफल यह हुआ है कि आज सम्यग्दर्शनकी तथाकथित महिमाके ऐसे-ऐसे अर्थ लगाये जा रहे हैं, जिनके सामने ज्ञान और चारित्र की महिमाका सर्वथा लोप-सा होता दिखाई देता है। शुद्धात्मानुभूति और शुद्ध उपयोगकी लुभावनी, अबन्धक दशाका आश्वासन, जिन्हें गृहस्थी पालते हुये, व्यापार चलाते हुये और लड़ते-झगड़ते तथा विषय-कषायोंका आनन्द लेते हुये भी प्राप्त है, वे लोग व्रतादिक की शुभ परिणतिको साक्षात् बन्ध कराने वाली और हेय मान बैठे हैं। सैकड़ों, और शायद हजारों लोगोंने धारण किये हुए व्रत और ली हुई प्रतिज्ञायें तक, बन्ध तत्व समझकर, त्याग दी हैं। त्यागके त्यागकी यह हवा संक्रामक रोगकी तरह एकान्त शास्त्राभ्यासी, नव-जिज्ञासुओंमें फैल रही है। अब साधकको जैसे ही सम्यग्दर्शन होकर आत्मा झलक मारना शुरू करती है, वैसे ही वह, जहाँ रमा है वहीं, अपनी उन्हीं प्रवृत्तियोंके बीच, अपने आपको 'जिनेश्वरका लघुनन्दन' समझने लगता है। राज, रमा, वनितादिक जेरस, तेरस, बेरस लागे' वाली स्थितिकी उसे आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती। खेदकी बात यह है कि तब उसे अपनी रागद्वेष रूप वर्तमान विकारी परिणति पर जरा भी खेद नहीं होता, उल्टे उसे अव्रती होनेकी एक महिमा सी लगती है। उसीका गौरव लगता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अव्रती सम्यग्दृष्टिका वैभव और उपलब्धियाँ गिनाते समय कई बार तो हम यह भी भूल जाते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव चारों ही गतियोंमें पाये जाते हैं, तब पशुमें अथवा नारकी जीवमें वह सारी महत्ता कैसे संगत बैठेगी, जिसे चतुर्थ गुणस्थान पर बिना विवक्षा विचारे, हम थोपते चले जा रहे हैं । इस दृष्टिसे भी प्रकृत विषय पर विचार किया जाना आवश्यक है ।

सम्यक्त्वके आठ अंग

प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य—ये चार भाव सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें कारण होते हैं । इन्हें हम समकितकी जड़ भी कह सकते हैं । वास्तवमें, इन्हीं चार भावोंके उत्तरोत्तर विकासका नाम ही सम्यग्दर्शन है । सम्यग्दर्शनके जो आठ गुण या अंग,—निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टित्व, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना कहे गए हैं, वे भी इन्हीं चार भावोंसे प्रगट और पुष्ट होते हैं । इनका परस्परमें ऐसा ही सम्बन्ध है ।

१—'प्रशम' गुण हमारी कषायगत तीव्रताको हटाकर हमारे भीतर समता भाव उत्पन्न करता है । समताकी मृदु भूमिमें ही स्वके अस्तित्वका बोध होता है । अपने ही अस्तित्वके प्रति हमारी अनादिकालीन शंकाओं या भ्रान्त धारणाओंका निराकरण होकर हमारे भीतर निःशंकित नामका पहला गुण प्रगट होता है । यही गुण, आगे चलकर एक ओर तो उत्तरोत्तर बढ़ते हुए प्रशम भावसे पोषण प्राप्त करता रहता है, और दूसरी ओर यह अपने प्रसादसे पाँचवें उपगूहन अगको पोषित करता रहता है ।

२—'संवेग भाव' संसार परिभ्रमण से भयभीत होकर उसकी परिपाटीको तोड़नेकी छटपटाहटका नाम है । संवेगके आते ही समस्त सांसारिक उपलब्धियाँ और उपाधियाँ असुहावनी और कष्टकर लगने लगती हैं । उनके प्रति आकर्षण या उनकी प्राप्तिकी आकांक्षा हमारे भीतर शेष न रह जाय, सम्यक्त्वका यह निःकांक्षित नामका दूसरा गुण है । यह गुण आगे जाकर एक ओर तो निरंतर बढ़ते हुए प्रशम भावसे पोषित होता चलता है, दूसरी ओर यह स्थितिकरण नामके छठे गुणको पोषण प्रदान करता है । जितना दृढ़ संवेग भाव होगा, उतनी ही दृढ़ता हमारे निःकांक्षित गुणमें होगी, और यह जितना दृढ़ होगा, उतना ही हम अपने आपको यश, ख्याति, लाभ पूजादि चाहसे बचाकर रख सकेंगे । इनसे बचे बिना 'स्व' के अथवा 'पर' के स्थितिकरणकी कल्पना भी नहींकी जा सकती ।

३—'अनुकम्पा' तृतीय भाव है जो मिथ्यात्वके नाशमें सहायक होता है । अनन्तानन्त संसारी जीवोंके अनादिकालीन दुःख समुदायका विचार करके, उनकी पीड़ासे द्रवित होकर, सर्वके दुःख निवारणकी कामना, अनुकम्पा है । दया भावमें, पर दुःख कातरता जोड़ देने पर, इस भावकी सही परिभाषा घटित होती है । अनुकम्पा प्रगट होते ही समस्त जीवों, और विशेषकर दुखियों-पीड़ितोंमें, हमारे निर्विचिकित्सा नामका तीसरा गुण प्रगट होता है । ग्लानि, घृणा, जुगुप्सा आदिका भाव हमारे मनसे निकल जाता है । यह गुण इधर तो निरन्तर अनुकम्पासे पोषण पाकर वृद्धिगत होता है और उधर अपने प्रसादसे वात्सल्य नामके सातवें गुणको बढ़ाता और दृढ़ करता है ।

४—'आस्तिक्य' चौथा सबसे महत्वपूर्ण भाव है । इसीकी दृढ़ताके सहारे कुदेव, कुश्रुत और कुगुरुकी अनादि मान्यताके हमारे अनुबन्ध खण्डित होते हैं, हमें 'अमूढ़-दृष्टित्व' नामका सम्यग्दर्शनका चौथा गुण प्राप्त होता है । स्व और परकी यथार्थ मान्यता के बिना यह आस्तिक्य गुण उत्पन्न हो ही नहीं सकता । आस्तिक्यकी दृढ़ताके बिना, मूढ़-दृष्टियाँ मिथ्याकल्पनाएँ कभी नष्ट नहीं हो सकतीं । हमारे भीतर आस्तिक्य की नींव जितनी गहरी होगी, हमारा अमूढ़दृष्टित्व भी उतना ही सबल और पुष्ट होगा ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह अमूढ़दृष्टित्व एक ओर तो सदैव आस्तिक्यसे शक्ति ग्रहण करके सबलता प्राप्त करता है, और दूसरी ओर 'प्रभावना' नामके आठवें गुणको आधार प्रदान करता है। आस्तिक्यके अनुरूप अमूढ़-दृष्टित्व, और अमूढ़-दृष्टित्वके अनुरूप ही प्रभावना हमारे भीतर प्रतिष्ठित हो सकते हैं। इस प्रका सम्यक्त्व उपजानेमें कारणभूत ये चार भाव ही सम्यक्त्वके आठ गुणोंको शक्ति प्रदान करके निर्मलता और सम्पूर्णता प्रदान करते हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाने पर इन चारोंकी उपयोगिता समाप्त नहीं हो जाती, वरन् वह उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है और समकितवान जीवके जीवनमें इनका समावेश और महत्व निरन्तर बना रहता है।

इन निशंकित आदि आठ गुणोंसे ही समकितका अस्तित्व है। जैसे शरीरके आठ अंग ही शरीरको पूर्णता प्रदान करते हैं, वैसे ही ये आठ गुण सम्यग्दृष्टि जीवका वैचारिक व्यक्तित्व बनाते हैं। निःशंकित और निःकांक्षितकी स्थिति दोनों पैरों जैसी है। इनके बिना व्यक्ति न टिक सकता है और न एक पग चल ही सकता है। निर्विचिकित्सा और अमूढ़दृष्टित्व हमारे दोनों हाथोंकी तरह हैं, जो मलशुद्धिसे लेकर चन्दन-तिलक तक सारी क्रियायें करते हुए भी शरीरकी शुचिताको बनाये रखते हैं। स्थितिकरण अंग पृष्ठ भाग-पीठकी तरह है। शरीरमें मेरुदण्डकी तरह समकितमें यह अंग भी पूरे व्यक्तित्वको स्थिरता और आधार प्रदान करता है। उपगूहन अंगकी स्थिति नितम्ब भागकी तरह है। जमकर बैठ जानेमें अत्यन्त उपयोगी होकर भी यह अंग प्रच्छन्न रहकर ही शोभा पाता है। हमारा वक्ष वात्सल्यका प्रतीक है। वात्सल्यकी उत्पत्ति, स्थिति और विकास सब कुछ हृदयमें ही होता है। वह तर्कसे, ज्ञानसे या बुद्धिसे बहुत ज्यादा संचालित नहीं होता। शाब्दिक वात्सल्यके बजाय लोकमें भी हार्दिक भावनाएँ या छातीसे लगाकर वत्सलता जताना ही सच्चे वात्सल्यका प्रतीक है। प्रभावनाका स्थान मस्तिष्कके समान निरर्थक है, उसी प्रकार मार्ग-प्रभावनाको आधार बनाए बिना, न समकित सच्चा समकित हो सकता है, न धर्म यथार्थ धर्म हो सकता है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शनके अविनाभावी ये आठ गुण ही समकितवान जीवको एक अभूतपूर्व व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। इनमेंसे कोई एक गुण भी यदि विकसित न हो पाये, तो वह अंग-हीन सम्यग्दर्शन, अनादि संसार परिपाटीका छेद करनेमें उसी प्रकार असमर्थ होता है जैसे कम अक्षरोंवाला मंत्र वांछित कार्यकी सिद्धिमें अकार्यकारी होता है।

निःशंकित गुण हमारी मनोभूमिको मृदुता प्रदान करता है। निःकांक्षित और निर्विचिकित्सा उसमेंसे राग द्वेषका उन्मूलन करते हैं, अमूढ़-दृष्टित्वसे मोहका परिहार होता है। शेष चार गुण हमारे व्यक्तित्वको शुचिता, संस्कार और आत्म-संयमकी ओर ले जाते हैं। तभी हमारा जीवन शल्य रहित हो जाता है, भय रहित हो जाता है। संक्लेश मुक्त हो जाता है। मिथ्या शल्य जानेसे भूतकालका अनादिसे लगा हुआ मल विसर्जित हो जाता है, माया शल्यके अभावमें वर्तमान जीवन प्रामाणिक और पवित्रता युक्त हो जाता है और निदान शल्य जानेसे भविष्यके अनुबन्ध तथा आसक्तियाँ टूटती हैं। इस प्रकार समकितकी निधि प्राप्त होते ही जीवके भूत, भविष्य और वर्तमान-तीनोंमें पवित्रता आ जाती है।

सम्यग्दृष्टि जीवकी प्रवृत्ति

समकितके उत्पादक भावों और गुणोंकी उपरोक्त चर्चासे, यह बात स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन प्राप्त होते ही जीवको, एक साथ अनेक ऐसी अनुपम निधियाँ प्राप्त हो जाती हैं, जिनके आधार पर उसकी बाह्य और अभ्यंतर, दोनों प्रकारकी प्रवृत्तियोंमें बड़े परिवर्त्तन प्रारम्भ हो जाते हैं। संयमरूप चारित्र भले ही अभी उसने धारण नहीं किया हो, परन्तु अब तककी सारी यद्वा-तद्वा प्रवृत्तियों और चपलताओंको त्यागकर,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह अविलम्ब ही एक विवेकपूर्ण जीवन शैलीसे बँध जाता है। उसकी मानसिक स्थिति इस संसारमें कुछ ऐसी हो जाती है, जैसी स्थिति वाग्दान् या सगाईके बाद कन्याकी अपने पितृगृहमें हो जाती है। सगाईके दिनसे बिदाके क्षणों तक वह कन्या, अपने जन्म गृहमें रहती है, हर्ष-विषाद, प्यार-प्रीति, भोजन-पान, धरा-उठाई—सब करती है, पर सगाईका सगुन चढ़ते ही, उसे अपने वर्तमान परिकरमें एक परायेपनका बोध होने लगता है। अब उसे अपना घर कहीं और दिखाई देता है। कल और आजकी उसकी प्रवृत्तिमें स्पष्ट अंतर है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीवकी प्रवृत्ति भी भिन्न ही हो जाती है। संसार, शरीर और भोगोंमें परायेपनकी, और स्वसम्पदाओंमें अपनेपनकी धारणा, उसमें बड़े परिवर्तन ला देती है।

करणानुयोगकी कसौटीपर परखें, तो समकित प्राप्त होते ही, इस जीवको अनादिकालसे निरन्तर बँधने वाली, कर्म प्रकृतियोंमेंसे इकतालीस प्रकृतियोंका बन्ध रुक जाता है[3]। इसका हेतु यही है कि इन्हें बाँधने वाले परिणाम और क्रिया-कलाप उस जीवकी परिणतिमेंसे तिरोहित हो जाते हैं। इसे निकषपर परखकर यदि हम देखें तो हमें स्पष्ट पता लग जाता है कि असंयम दशाके रहते हुए भी, समकितवान जीवकी प्रवृत्तिमें बहुत परिष्कार हो जाता है। उसके मन, वचन, कार्यकी परिणति, पहिलेसे एकदम भिन्न हो जाती है।

उदाहरणके लिए, नीच-गोत्र कर्मका बन्ध सम्यग्दृष्टि जीवको नहीं होता। इसका अर्थ हुआ कि परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, तथा दूसरोंके सद्गुणोंका आच्छादन और असद्का उद्भावन और अपने असद्का आच्छादन व सद्का उद्भावन उसके द्वारा नहीं होगा। विचारनेकी बात है कि इतने सूक्ष्म और संवेदनात्मक परिष्कार उसकी विचार पद्धतिका अंग बन जाते हैं, तब उसकी प्रवृत्तिमें संकल्पी हिंसा, क्रूरता और दुष्ट अभिप्रायकी बात शेष रह जाये, यह कहाँ तक स भव है ? ऐसा ही आकलन अन्य कर्म-प्रकृतियोंके सम्बन्धमें करनेपर हमें सम्यग्दृष्टि जीवकी परिवर्तित परिणतिका सही अनुमान हो सकता है।

सम्यग्दर्शनके प्रकार

स्वामित्वकी अपेक्षासे, अथवा सहचारी अन्य गुणोंके परिणमनकी अपेक्षासे, सम्यग्दृष्टि जीवोंकी अनेक श्रेणियाँ होती हैं। मोटे रूपमें इन्हें चौथेसे लेकर दशमें गुणस्थान तक सात श्रेणियोंमें बाँटा गया है। भगवान कुन्दकुन्द समयसारमें द्रव्यानुयोगकी मुख्यतासे व्याख्या कर रहे थे, उनका श्रोता समुदाय, रत्नत्रय-धारी साधु समुदाय ही था, इसलिए वहाँ उन्होंने प्रायः उन्हीं उत्तम पात्रोंके अनुसार बातकी है। सम्यग्दृष्टि या ज्ञानीके लिए कुन्दकुन्द द्वारा प्रयुक्त महानतापूर्ण विशेषणोंके प्रभामण्डलमें, जब हम अपना प्रतिबिम्ब देखते हैं, तब अपनी वर्तमान दशाका परिष्कार करके, तदनुरूप उत्कर्षकी ओर अग्रसर होनेकी बजाय, हम अपनी वर्तमान उदयाभिभूत, विकारी परिणतिमें ही, उन सारी महानताओंका स्वामित्व अपनेमें देखने लगते हैं। उस प्रभामण्डलको अपने चहुँ ओर ढूँढ़ने लगते हैं, देखने लगते हैं या समझने लगते हैं। बस, यही भ्रम हमारे भीतर बहुत सी खुश-फहमीको उत्पन्न कर देता है।

भगवान कुन्दकुन्दका उपदेश तो चक्रवर्तीका लड्डू है। जिसमें इसके पचानेकी क्षमता नहीं होगी, खाते ही उसके बौरा जानेमें कोई शंका नहीं है। कविवर बनारसीदासजीके साथ यही हुआ। वे जन्मतः श्वेताम्बर थे। उन्होंने जब बिना किसी प्रारम्भिक अध्ययन-मननके समयसार उठा लिया, जैसा उसमें लिखा है, वैसा ही एकान्त रूपसे समझ लिया, तो जो दशा उनकी हुई, सो अर्द्धकथानकमें दर्ज है। आज भी हममेंसे अनेकोंके साथ यही हो रहा है। अन्तर केवल इतना है कि स्वीकार कर सकें, इतनी सरलता और इसका परिमार्जन कर सकें इतना विवेक, ऐसा साहस, बनारसीदासजीके पास था, हमारे पास नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान कुन्दकुन्दने तो प्रायः सौ टंचका कुन्दन ही अपनी दृष्टिमें रखकर हर जगह बात की है। उनका ज्ञानी तो पूर्व निराश्रव, वीतरागी, अवंचक और निष्कम्प परिणति वाला है (समयसार गया १६६) इनके हार्दको प्रगट करनेके लिए जयसेन आचार्यने सम्यग्दर्शनको 'सराग' और 'वीतराग'—इन दो प्रकारोंमें विभक्त करके चौथेसे छठवें गुणस्थानके जीवोंको—जो बुद्धिपूर्वक रागादि रूप परिणतिमें प्रवृत्त हैं—सराग सम्यग्दृष्टि कहा। और सातवें तथा उससे उपरके गुणस्थानोंके जीवोंको, जहाँ बुद्धिपूर्वक रागादिरूप परिणतिका सर्वथा अभाव है—वीतराग सम्यग्दृष्टि कहा। इस प्रसंगमें उन्होंने एक मार्गदर्शन और हमें दिया कि समयसार पढ़ते समय सम्यग्दृष्टि या ज्ञानीका अर्थ मुख्यतः वीतराग सम्यग्दृष्टि ही करना चाहिये।

पूज्यपाद स्वामीने प्रशम संवेगादिककी अभिव्यक्ति लक्षणवाला 'सराग सम्यग्दर्शन' और आत्माकी विशुद्धि मात्रको 'वीतराग सम्यग्दर्शन' कहा है। **राजवार्तिकमें** अकलंक देवने, सातों प्रकृतियोंके आत्यंतिक क्षय होने पर प्रगट होनेवाली, आत्मविशुद्धिको 'वीतराग सम्यग्दर्शन' माना है। **समयसारके** टीकाकार त्रिगुप्तिरूप अवस्थाको ही वीतराग सम्यग्दर्शनकी संज्ञा देते हैं। **समयसार** तात्पर्यवृत्तिमें, जयसेनाचार्यने अशुभ कर्मके कर्त्तापनेको छोड़नेवालेको 'सराग सम्यग्दृष्टि' तथा शुभ और सब प्रकारके कर्मोंके कर्त्तापनेको छोड़कर निश्चय चारित्रकी अविनाभूत दशाको 'वीतराग सम्यग्दर्शन' कहा है (गाथा ९७)।

दूसरी ओर, पंचाध्यायीकार ग्रन्थके दूसरे अध्याय (श्लोक ८२५-३१) में कहते हैं कि 'सम्यक्दर्शनमें जो 'सराग' 'वीतराग' आदि भेद देखता है, वह मिथ्यादृष्टि है,' परन्तु उन्होंने ग्रन्थमें सम्यक्त्वका विशद विवेचन करते हुए नाना अपेक्षाओंसे अपनी बात समझाई है।

सम्यग्दर्शनके विविध लक्षणोंका समन्वय करते हुए डा० पन्नालाल साहित्याचार्यने रत्नकरण्ड श्रावकाचारकी भूमिकामें उसके पाँच लक्षण माने हैं :

१. परमार्थ देव-शास्त्र-गुरुकी प्रतीति, २. तत्त्वार्थ श्रद्धान, ३. स्व-पर श्रद्धान। ४. आत्माका श्रद्धान ५. सात प्रकृतियोंके उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयसे प्राप्त श्रद्धागुणकी निर्मल परिणति।

उनका यह कथन विशेष मननीय है कि—इन पाँच लक्षणोंमेंसे पाँचवाँ लक्षण जो करणानुयोगका सम्यग्दर्शन है, वही साध्य है। शेष चार उसके साधन हैं। जहाँ इन चारोंको सम्यग्दर्शन कहा है, वहाँ कारणमें कार्यका उपचार ही समझना चाहिये।

सम्यक्त्वके साथ चारित्रकी व्याप्ति

आचार्योंकी स्थापित परम्परामें सम्यग्दर्शनकी चारित्रके साथ विषम व्याप्ति स्वीकार की गई है। इसी कारण चौथे गुणस्थानवर्ती, अविरत सम्यग्दृष्टि जीवको, न तो रत्नत्रयधारी माना गया है, और न ही उसे मोक्षमार्गकी उपलब्धि मानी गई है। आचार्योंने संयमाचरण चारित्रके तीन भेद किये हैं—देश चारित्र, सकलचारित्र और यथाख्यातचारित्र। पाँचवाँ गुणस्थान ही चारित्रका प्रथम सोपान कहा गया है। वहींसे जीवको मोक्षमार्गका एकदेश प्रारम्भ होता है।

कुन्दकुन्दकी चारित्रपाहुडकी आठवीं गाथाके सहारेसे, स्वरूपाचरण चारित्रकी संगति, चौथे गुणस्थानमें बैठानेका प्रयत्न, कुछ विद्वानोंने किया है, परन्तु भगवान्‌की मूल शब्दावलीमें 'सम्यक्त्वचरण चारित्र' शब्द आया है, स्वरूपाचरण नहीं। संस्कृत टीकाकार श्रुतसागर सूरिने 'यच्चरति यत्प्रतिपालयति यतिः' लिखकर, उस सम्यक्त्वचरण चारित्रको मुनियोंके लिए साध्य बताकर, स्पष्ट ही चौथे गुणस्थानमें उसकी संभावनाका निषेध कर दिया है। अगली गाथाकी टीकामें भी उन्होंने 'ये सूरयः' शब्द रखकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपनी बात स्पष्ट कर दी है। पण्डित राजमलजीके पूर्व, अर्थात् आजसे चारसौ वर्ष पहिले तक, स्वरूपाचरण नामका जैन आगममें कहीं कोई उल्लेख भी नहीं था। पंचाध्यायीकार पं० राजमलजीने अनन्तानुबन्धीके अभावमें, चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टिको भी, चारों गतियोंमें पाये जानेवाले स्वरूपाचरण चारित्रका सर्वप्रथम विधान किया है। उन्होंने प्रारम्भसे ही दर्शन-ज्ञान-चारित्रको अविनाभावी होनेसे अखण्ड ही स्वीकार किया है[1]। इसीके ही सहारेसे पण्डित टोडरमलजीने चौथे गुणस्थानमें स्वरूपाचरण चारित्रकी व्यवस्था दी है। एक जगह उनका कथन है—'तहाँ जिनका उदय तैं आत्मा कै सम्यक्त्व न होय, स्वरूपाचरण चारित्र न होय सकै, ते अनन्तानुबन्धी कषाय हैं'[2]। तथा अन्य स्थान पर उन्होंने लिखा है—'बहुरी इस मिथ्याचारित्र बिषै स्वरूपाचरण रूप चारित्रका अभाव है[3]।'

पं० गोपालदासजी बरैयाने चारित्रगुणके मूलतः स्वरूपाचरण और संयमाचरण—ऐसे दो भेद करके, फिर संयमाचरणके तीन भेद किये हैं[4]। उन्होंने पर मैं इष्टानिष्ट निवृत्तिपूर्वक निज स्वरूपमें प्रवृत्ति ही इसका लक्षण बताया है। इस प्रकार उन्होंने चारित्रको तीनकी जगह चार भेदोंमें बाँटा है।

पण्डित दौलतरामजीने छहढालामें देश-चारित्रके साथ भी स्वरूपाचरणका विधान नहीं किया, वरन् सकल-चारित्रके वर्णनके बाद, निर्विकल्प दशामें ही उसका विधान मुनियोंके वर्णनमें किया है[5]।

यह स्वरूपाचरण चारित्र जो भी हो, पर यह वह तत्त्व नहीं है जिसे हम रत्नत्रयका एक अंग कह सकें। भले ही यह चौथे गुणस्थानमें सम्यक्त्वके साथ ही उत्पन्न होकर, अविनाभाव रूपसे रहता है, । पर चारित्र गुणकी निर्मलतासे आत्माको जो विशिष्ट उपलब्धियाँ होती हैं, उनका शतांश भी प्रकट करानेकी शक्ति इस स्वरूपाचरणमें नहीं है। यह तो सम्यक्त्वकी ही एक विशेषतारूप विकास है। पण्डित मक्खनलाल जीने भी इस स्थितिको स्पष्ट करते हुए लिखा है :

'सम्यग्ज्ञान होने पर यह नियम नहीं है कि चारित्र भी हो। चौथे गुणस्थानमें सम्यग्ज्ञान भी हो जाता है परन्तु सम्यक्चारित्ररूप संयम वहाँ नहीं है। अर्थात् सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यक्चारित्र हो भी, अथवा नहीं भी हो, नियम नहीं है[6]। पण्डित टोडरमलजीने भी स्वरूपाचरणकी असमर्थता और मोक्षमार्गमें संयमाचरणकी अनिवार्यता स्वीकार करते हुए लिखा है, 'तातैं अनन्तानुबंधीके गएँ किछू कषायनिकी मंदता तो हो है, परन्तु ऐसी मन्दता न होय जाकरि कोई चारित्र नाम पावैं। यद्यपि परमार्थ तैं कषायका घटना चारित्रका अंश है, तथापि व्यवहार तैं जहाँ ऐसा कषायनिका घटना होय जाकरि श्रावकधर्म वा मुनि-धर्मका अंगीकार होय, तहाँ ही चारित्र नाम पावै है'[7]।

इतना ही नहीं, पण्डितजीने यह भी स्पष्टतया निर्देशित कर दिया है कि संयमरूप चारित्रकी साधना किये बिना जीवको मोक्षमार्ग बनता ही नहीं है। उन्होंने स्वतः प्रश्न उठाया—"जो असंयत सम्यग्दृष्टि कै तौ चारित्र नाहीं, वाकै मोक्षमार्ग भया है कि न भया है। ताका समाधान—

---

१. पंचाध्यायी, अध्याय २, श्लोक ७६४, ६७।

२. मोक्षमार्ग प्रकाशक (हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, प्रथमावृत्ति सन् १९११), अध्याय २, पृष्ठ ५५।

३. मोक्षमार्ग प्रकाशक, वही, अध्याय ४, पृष्ठ १९९।

४. गुरु गोपालदास बरैया स्मृतिग्रन्थ, पृष्ठ १३९।

५. छहढाला, दौलतराम।

६. पंचाध्यायी, अध्याय २ श्लोक ७६७ का भावार्थ।

७. मोक्षमार्ग प्रकाशक; वही, अध्याय ९ पृष्ठ ४८४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'मोक्षमार्ग वाकै होसी, यह तो नियम भया। तातैं उपचार तैं वाकै मोक्षमार्ग भया भी कहिये। परमार्थ तैं सम्यक् चारित्र भएँ ही मोक्षमार्ग हो है। असंयत सम्यग्दृष्टि कैं वीतराग भावरूप मोक्ष-मार्गका श्रद्धान भया, तातैं वाकौं उपचार तैं मोक्षमार्गी कहिये, परमार्थ तैं वीतराग भावरूप परिणमें ही मोक्षमार्ग होसी। बहुरि प्रवचनसार विषैं भी तीनोंकी एकाग्रता भएँ ही मोक्षमार्ग कह्या है। तातैं यह जानना तत्व श्रद्धान बिना तौ रागादि घटाएँ मोक्षमार्ग नाहीं, अर रागादि घटाए बिना तत्त्व-श्रद्धान-ज्ञान तैं भी मोक्षमार्ग नाहीं। तीनों मिलै साक्षात् मोक्षमार्ग हो है[1]।

इस प्रकार सम्यग्दर्शनके साथमें स्वरूपाचरण चारित्र और संयमाचरण चारित्रकी संगतिको दृष्टिमें रखनेसे विरोध या विवादका निराकरण हो जाता है।

शुद्धोपयोग

उपयोगके अशुभ, शुभ और शुद्ध, ऐसे तीन भेद करते समय, आचार्योंने सातवें गुणस्थानसे ही शुद्धोपयोगका अस्तित्व माना है। छठवें गुणस्थान तक शुभ और चौथेसे नीचे, मिथ्यात्वके सद्भावमें, अशुभ उपयोगकी ही चर्चा है। आचार्य जयसेनने प्रवचनसारकी तात्पर्यवृत्तिमें पहिले, दूसरे तथा तीसरे गुणस्थानोंमें तारतम्यसे घटता हुआ अशुभ उपयोग बताया है। चौथे, पाँचवे तथा छठवें गुणस्थानोंमें तारतम्यसे बढ़ता हुआ शुभ उपयोग कहा है, और सातवेंसे लेकर बारहवें तक छह गुणस्थानोंमें तारतम्यसे बढ़ता हुआ शुद्ध उपयोग लिखा है। तेरहवें एवं चौदहवें गुणस्थानोंको शुद्धोपयोगका फल निरूपित किया है[3]।

अमृतचन्द आचार्यने भी प्रवचनसारकी टीकामें, परद्रव्य संयोग कारणसे होनेवाले जीवके समस्त उपयोगको, अशुद्ध कोटिमें लेकर, विशुद्धि-संक्लेश रूप उपरागके वशीभूत, उसे शुभ और अशुभ नाम दिया है। उन्होंने दर्शनमोह और चारित्रमोह, इस प्रकार समस्त मोहनीय कर्मकी उदय दशामें, जीवको अशुभ उपयोगी और क्षयोपशम दशामें शुभोपयोगी कहा है। आचार्यने शुद्धोपयोगका विधान परद्रव्यानुवृत्तिके अभावमें, अशुद्ध उपयोगसे विमुक्त होकर, मात्र स्वद्रव्यके आश्रय रूप अवस्थामें किया है[२]। गुणस्थान परिपाटीसे बिठाने पर अमृतचन्द्राचार्य और जिनसेनाचार्यकी उपरोक्त दोनों व्यवस्थायें एक रूप ही विधान प्रस्तुत करती पाई जाती हैं।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेवकी बृहद्द्रव्यसंग्रहकी टीकामें ब्रह्मदेवने भी इसी प्रकार प्रथम तीन गुणस्थानोंमें परम्परासे शुद्धोपयोगका साधक रूप शुभोपयोग और अनन्तर जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेदसे युक्त एकदेश शुद्धनयके आलम्बन रूप शुद्धोपयोग निरूपित किया है।[४] इस प्रकार गुणस्थान परिपाटीमें मिथ्यादृष्टि जीवको शुभ उपयोगका और सम्यग्दृष्टिको सातवें गुणस्थानसे पूर्व शुद्धोपयोगका विधान आचार्योंने कहीं भी नहीं किया।

पं० टोडरमलजीने मिथ्यादृष्टि जीवको भी शुभ उपयोगका विधान करते हुए एक जगह लिखा है—'शुभोपयोग तै स्वर्गादि होय, वा भली वासना तैं वा भला निमित्त तैं कर्मका स्थिति अनुभाग घटि जाय,

१. वही, अध्याय ९, पृष्ठ ४४८।

२. प्रवचनसार, अध्याय, । गाथा ९ (तात्पर्यवृत्ति टीका)।

३, प्रवचनसार, अध्याय, २ गाथा ६४–६७ (आत्मख्याति टीका)।

४. बृहद् द्रव्य-संग्रह, गाथा ३४ की संस्कृत टीका।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तौ सम्यक्त्वादिकी भी प्राप्ति हो जाय'।[1] इसी बातको एक अन्य प्रसंगमें वे लिखते हैं—तातैं मिथ्यादृष्टि-का शुभोपयोग तौ शुद्धोपयोगको कारण नाहीं'।[2]

सातवें गुणस्थानसे नीचे चौथे आदिमें शुद्धोपयोगका विधान पण्डितजीके कुछेक स्थलोंसे प्रगट माना जाता है। जैसे उन्होंने कहा—'ऐसैं यह बात सिद्ध भई—जहाँ शुद्धोपयोग होता जानै, तहाँ तो शुभ कार्य-का निषेध ही है, अर जहाँ अशुभोपयोग होता जानैं' तहाँ शुभ कौ उपाय करि अंगीकार करना युक्त है।[3]

परन्तु पं० टोडरमलजी भी उपयोगको आचार्य प्रणीत, उपरोक्त करणानुयोग सम्मत शास्त्रोक्त व्यवस्थाका ही विधान वास्तवमें करना चाहते थे। ऊपरके उद्धरणोंमें जो कुछ भी उन्होंने कहा है, वह उपयोगकी नहीं, योगकी स्थिति है। यहाँ उनका तात्पर्य जीवके परिणामोंसे नहीं, वरन् उनके मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिसे है। त्रियोगकी ऐसी शुभ प्रवृत्ति उनका लक्ष्य है, जिसके बलपर अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव भी स्वर्गमें नवमें ग्रैवेयक तककी पात्रता प्राप्त कर लेता है। अपनी विवक्षाको पण्डितजी ग्रन्थमें आगे चलकर स्पष्ट करना चाहते थे। एक जगह उन्होंने लिखा है—"करणानुयोग विषैं तौ रागादि रहित शुद्धोपयोग, यथाख्यात चारित्र भएँ होय, सो मोहका नाश भएँ स्वयमेव होगा।" नीचली अवस्थावाला शुद्धोपयोग साधन कैसे करें। अर द्रव्यानुयोग विषैं शुद्धोपयोग करने ही का मुख्य उपदेश है, तातैं यहाँ छद्मस्थ जिस काल विषैं बुद्धि-गोचर भक्ति आदि व हिंसा आदि कार्य रूप परिणामनिकों छुड़ाय, आत्मानु-भवनादि कार्यनि विषैं प्रवर्तैं, तिसकाल ताकों शुद्ध उपयोगी कहिये। यद्यपि यहाँ केवल-ज्ञान गोचर सूक्ष्म रागादिक हैं तथापि ताकी विवक्षा यहाँ न कही, अपनी बुद्धि-गोचर रागादि छोड़े, तिस अपेक्षा याकों शुद्धो-पयोगी कह्या है। ऐसै ही स्व-पर श्रद्धानादिक भयें सम्यक्त्वादि कहे, सो बुद्धि-गोचर अपेक्षा निरूपण है। सूक्ष्म भावनिकी अपेक्षा, गुणस्थानादि विषैं सम्यक्त्वादिका निरूपण करणानुयोग विषैं पाइये हैं।[4]

इस प्रकार पण्डितजीके कथनका निराकरण स्वयं उनके ही कथनसे हो जाता है। वास्तवमें निचली दशामें शुद्धोपयोगका विधान पण्डितजीने कहीं किया ही नहीं है। सर्वत्र उनका कथन योगोंपर ही घटित होता है। भक्ति आदि शुभ तथा हिंसादिक अशुभ कार्यों परसे ही उन्होंने शुभ-अशुभ उपयोगका विधान किया है। उदयगत परिणामोंकी अपेक्षा उनका निरूपण है ही नहीं।

पण्डित जगन्मोहनलालजीने, अपने ग्रन्थ 'अध्यात्म अमृतकलश' में शुद्धोपयोगकी व्युत्पत्ति-मूलक व्याख्या तीन प्रकारसे करके आगमसे उसकी विधिपूर्वक संगति बिठाई है।[5]

१—'शुद्धे आत्मनि यः उपयोगः स शुद्धोपयोगः' ऐसा शुद्धोपयोग चौथे गुणस्थानसे आत्म-चिन्तनके क्षणोंमें माना जा सकता है।

२—'शुद्धश्चासौ उपयोगः रागादिविरहितः स शुद्धोपयोगः' ऐसे शुद्धोपयोगकी स्थिति, सातवें गुण-स्थानसे ही प्रारम्भ हो सकेगी।

---

१. मोक्षमार्ग प्रकाशक : हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय (प्रथमावृत्ति–१९११), अध्याय-सात, पृष्ठ २९०।
२. वही, अध्याय–सात, पृष्ठ ३६२।
३. वही, अध्याय–सात, पृष्ठ २९१।
४. मोक्षमार्ग प्रकाशक, वही, अध्याय–८, पृष्ठ ४०५।
५. अध्यात्मकलश, जगन्मोहनलाल शास्त्री।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३—'शुद्धः पूर्णज्ञानरूपः उपयोगः स शुद्धोपयोगः' जीवका शुद्ध, पूर्णज्ञानरूप उपयोग, सो शुद्धोपयोग है। यह परिभाषा ग्यारहवें-बारवें गुणस्थानमें ही सार्थक होगी, उसके पूर्व नहीं।

इस प्रकार विचार कर देखा जाये तो आचार्य प्रणीत आगमिक व्यवस्था ही सर्वत्र ठीक बैठती है। उसके विपरीत जहाँ, जो कहा गया है, वह किसी न किसी विशेष विवक्षाकी दृष्टिसे ही कहा गया है। उस विशेष विवक्षाको दृष्टिमें लाये बिना उस कथनका सही अर्थ समझनेमें भ्रम हो सकता है।

स्वानुभूति

हमारे पास 'स्व' का या 'पर' का, जो भी ज्ञान है, उसे हम चार कोटियोंमें बाँट सकते हैं—सूचना, ज्ञान, विश्वास और अनुभव (इन्फार्मेशन, नालेज, बिलीफ एवं एक्सपीरियेन्स)।

(अ) साधारण, ऊपरी सतही या काम चलाऊ ज्ञान, चाहे वह कितना ही पुष्कल और चारुवाक् सुशोभित क्यों न हो, सूचना, या 'इन्फार्मेशन' की कोटिमें आता है।

(ब) गहरे स्तरका, तुलनात्मक अध्ययन और मननसे युक्त, पूर्वापर सम्बन्ध और कार्य-कारण विवेककी निकष पर कसा हुआ, अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, असम्भव आदि सभी दूषणोंसे रहित यही ज्ञान जब तलस्पर्शी होता हुआ, विधि-निषेधोंकी खराद पर चढ़कर आभा प्राप्त करेगा, तब उसे ज्ञान या 'नालेज' की संज्ञा मिलेगी।

(स) अभीप्सित वस्तु यही है, ऐसी ही है, इतनी ही है और इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है, इससे 'कमो-वेश' भी नहीं है तथा इसके विपरीत भी नहीं हैं, ऐसी अडिग-आस्था अपने ज्ञान पर जब हमारे मनमें स्थापित हो जाये, तब उसी आस्थाका नाम विश्वास या 'बिलीफ' है।

(द) ज्ञानसे जानी हुई वस्तुकी प्रक्रियाको स्वयं प्रयोग द्वारा देखना, उसके रसका आस्वादन करना या एक बार उसमेंसे होकर गुजरना ही अनुभव है। इसी दशाको 'एक्सपीरिएन्स' भी कहते हैं। यहाँ ध्यान रखने की बात है कि यह अनुभव भी स्वानुभूति नहीं है। मात्र हमारे ज्ञानकी प्रयोग-सिद्ध अनुमोदनाका ही नाम यहाँ अनुभव है।

उदाहरणके लिए, सुनीता एक लेडी डाक्टर है। प्रसव और प्रसव-सम्बन्धी निदान-चिकित्साकी विशेष योग्यता और डिग्री विदेशसे लेकर आई है। उसकी डिग्रियोंसे हमारे मन पर उसकी सूचना ज्ञान और विश्वासकी छाप तो पड़ सकती है परन्तु जहाँ तक उसके अनुभवकी बात है वहाँ हमारा मन उसकी योग्यताको स्वीकार करनेके लिए तैयार नहीं होगा। दो चार वर्ष अस्पतालमें काम करके जब डा० सुनीता अपनी देख-रेखमें सौ-पचास प्रसव कराकर दस-बीस आपरेशन करके और दो-चार सौ महिलाओंकी निदान-चिकित्सा आदि करके अपनी विज्ञता एवं कुशलताका प्रभाव अर्जित कर लेगी तभी हम उसे अनुभवी लेडी डाक्टरके रूपमें स्वीकार करेंगे। मजेकी बात यह है कि डा० सुनीताका यह प्रसव-अनुभव भी ज्ञानका उपरोक्त चौथा प्रकार ही है। हम उसे अनुभव या एक्सपीरियेन्स कहेंगे परन्तु स्वानुभव या स्वानुभूति नहीं कह सकते। प्रसवका स्वानुभव डा० सुनीताको उसी दिन प्राप्त होगा जिस दिन वह भी माँ बनकर स्वतः प्रसव की वेदना और मातृत्वकी गरिमाका अनुभव करेगी।

इसी प्रकार ज्ञान आराधन करता हुआ साधक भी, पंचास्तिकाय, षट् द्रव्य, सप्त तत्व और नौ पदार्थों के सम्बन्धमें पढ़ता है, सुनता है, जानता है, उस पर विश्वास करता है और कई बार प्रयोगके द्वारा उसका अनुभव भी करता है। विशेषकर स्व-आत्माको लेकर वह अपने अर्जित ज्ञानके नाना विकल्पों द्वारा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने आपको शरीरादिसे पृथक्, और कषायादि विकारोंसे भी पृथक, देखने जाननेका प्रयत्न करता हैं। इसे ही सामान्यतः अनुभव कहा जाता है। इस प्रक्रियामें कभी तो अपनी वर्तमान, कषाय-सम्पृक्त, उदयाभिभूत, आत्मपरिणतिको देखकर—"इसमें जिज्ञासा करने वाला, जानने देखने वाला जो तत्त्व है, वही मैं हूँ; ऐसे विधिपरक विकल्पों द्वारा तथा कभी यह उपजने-विनशने वाला शरीर मैं नही हूँ। ये रागादि विकारी भाव मेरी परिणति होते हुए भी पर निमित्तजन्य और उत्पन्नध्वंसी होनेके कारण पर ही हैं, मैं नहीं हूं" ऐसे निषेधपरक विकल्पोंके द्वारा साधक अपनी आत्माका अनुभव करता है। यहाँ मजेकी बात यह है कि इस निचली दशामें साधकका यह अनुभव भी ज्ञानकी उपरोक्त चौथी स्थिति मात्र ही है। शास्त्रोक्त शुद्धात्मानुभूति अथवा स्वानुभूतिके साथ 'अनुभव' की कोई संगति नहीं है।

आत्मा-अनात्माका ज्ञान चाहे जितना पुष्कल हो जाये उसके चिन्तनमें नाना विकल्पोंका सहारा लेकर चाहे हम जितना गहरे डूब जायें किन्तु हमारी यह सारी प्रक्रिया जानने, देखने और अनुभव करनेके पर्यायवाची नामोंसे जानी जाने वाली ज्ञानकी विकल्पात्मक परिणति ही होगी। परन्तु शुद्धात्मानुभूति विकल्पोंके द्वारा उपलब्ध हो जाय ऐसा कोई उपाय है नहीं।

ऐसी 'स्वानुभूति' की सही परिभाषा तो तभी घटित होगी जब मन, वचन, काव्यके व्यापारों पर अंकुश लगाकर त्रिगुप्तिपूर्वक तीन कषायोंके झंझावातसे सुरक्षित हमारी ज्ञान-ज्योति नयों और विकल्पोंसे ऊपर उठकर ज्ञानमें प्रतिष्ठित होती हुई निष्कम्प होकर प्रकाशित हो। यह स्थिति अध्यात्म भाषाके अनुसार समस्त क्रियाओंको तिरोहित करके जब हम अकेली ज्ञप्तिक्रियामें संलग्न होंगे तब बनेगी। आगम भाषाके अनुसार तीन कषायोंके अभावमें संज्वलनके मंदोदयके समय त्रिगुप्तिपूर्वक तीनों योगोंकी सम्यक् संयोजना करते हुए कषायोंका बुद्धिपूर्वक व्यापार एकदम रोक कर जब हम निर्विकल्प समाधिको उपलब्ध होंगे तब ही हमारी आत्मामें स्वानुभूति प्रत्यक्ष होगी।

इस प्रकार, इस स्वानुभूतिका सम्यग्दर्शनके साथ अन्वय-व्यतिरेक पूर्वक अविनाभावी सम्बन्ध नहीं बैठता। सम्यग्दृष्टि जीव स्वानुभूतिसे युक्त और स्वानुभूतिसे रहित भी पाया जा सकता है। स्वानुभूतिकी उपलब्धि होगी, तो सम्यग्दृष्टिको ही, *पर यह भी निर्धारित है कि किसी जीवको किसी भी समय अन्तर्मुहूर्तसे अधिक कालके लिए इसकी उपलब्धि कभी हो नहीं सकेगी।* यह स्वानुभूति मोक्षमार्गी जीवको ही होती है। मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकताका नाम है। 'सम्यक्चारित्र' त्यगरूप अवस्था बननेपर संयमी जीवको ही प्राप्त होता है। चौथे गुणस्थानमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवको भी सम्यक्चारित्रसे रहित ही कहा गया है। वह वहाँ असंयमी ही है। वीतराग भावके बिना शुद्धात्मानुभूतिकी उत्पत्ति असम्भव है। वस्तुमें शक्ति रूपसे विहित भावी पर्यायका, ज्ञानके द्वारा जान लेना अलग बात है, और उस पर्यायके प्रकट हो जानेपर उसका साक्षात्कार करना एक बिलकुल अलग बात है। एक अनगढ़ पाषाणखण्डको देखकर शिल्पी उसमें भगवान्की प्रतिमा बनानेकी सम्भावनाओंका आकलन कर लेता है। वह वास्तवमें उस चट्टानमें अपनी कल्पित कलाकृतिका, जिसे उसने अभी गढ़ा नहीं है, दर्शन ही कर लेता है। वह तो यह भी कह सकता है कि प्रतिमा तो इस पाषाणमें है ही, मुझे प्रतिमाका निर्माण नहीं करना है। मुझे तो केवल उस प्रतिमाके अंग-प्रत्यंगोंपरसे अनावश्यक पत्थर छीलकर हटा देना है, ताकि आप भी उस मनोहारी छविका दर्शन कर सकें।

शिल्पीकी यह बात एक दृष्टिसे ठीक भी है, परन्तु चट्टानके भीतर प्रतिमाके दर्शनकी उसकी यह कल्पना; शिल्पीके ज्ञानका ही ताना-बाना है, अनुभवका नहीं। इसका कारण बहुत आसान है। भूत, भविष्यत् और वर्तमानकी पर्यायोंको जाननेकी क्षमता, ज्ञानमें तो है, अनुभवमें नहीं। अनुभवकी सीमा रेखा तो वर्तमान प्रगट पर्यायके साथ बँधी है। अनगड़ चट्टानके भीतर प्रतिमाकी छविका दर्शन करता हुआ भी शिल्पी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्या चट्टानकी पूजा-अर्चना करके प्रभु-पूजनका आनन्द और सन्तोष प्राप्त कर सकता है ? इसी प्रकार वस्तु-स्वरूपको ठीक-ठीक समझता हुआ भी सम्यग्दृष्टि जीव, अपनी विकाररूप परिणति और उदयाभिभूत आत्मामें, अपने भीतर शक्ति रूपसे पड़े हुये, सिद्ध समान शुद्ध, बुद्ध, निर्मल, निराकार, निरंजन आत्माका दर्शन करता है, परन्तु यह उसके विलक्षण ज्ञान हो का फल है, अनुभवका नहीं। उसकी आस्थामें यह बात अडिग रूपसे पड़ी हुई है कि मेरा स्वरूप, मेरा शुद्ध द्रव्य ऐसा ही है, परन्तु अभी वर्तमानमें उसका अशुद्ध तथा विकारी परिणमन हो रहा है। विकारोंको हटा देनेपर मेरी भी ऐसी ही शुद्ध-पर्याय प्रगट हो जायेगी, जैसी सिद्ध भगवान्‌की हो गई है।

समयसारके टीकाकार जयसेनाचार्यने इसी प्रकार स्वानुभूतिको निश्चय, अभेद-रत्नत्रयके साथ ही स्वीकार किया है। अतः उसकी उपलब्धि सप्तम गुणस्थानमें और उसके ऊपर ही उन्होंने स्वीकार की है। उनके शब्द हैं—'शुद्धात्मसुखानुभूतिरूपं स्वसंवेदनज्ञानं वीतरागमिति। इदं व्याख्यानं स्वसंवेदनव्याख्यानं-काले सर्वत्र ज्ञातव्यम्[1]।'

पण्डित राजमलजीने पञ्चाध्यायीमें स्वानुभूतिको मतिज्ञानके भेदमें लिया है। उन्होंने सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके साथ ही, स्वानुभूत्यावरण कर्मके क्षयोपशमपूर्वक ही, सम्यग्ज्ञानका अस्तित्व माना है। उसका स्पष्ट निर्देश है कि—'वह आत्मानुभूति, आत्माका ज्ञान विशेष है, और वह ज्ञान विशेष, सम्यग्दर्शनके साथ अन्वय और व्यतिरेक दोनोंसे अविनाभाव रखता है। सम्यक्त्व और स्वानुभूतिका सहभावीपना है, तो यह कहा जा सकता है कि स्वानुभूति ही सम्यक्त्व है, परन्तु वहाँ स्वानुभूतिको ही सम्यक्त्व कह दिया गया है।[2]

पण्डितजीने चूँकि स्वानुभूतिको स्वानुभूत्यावरणके क्षयोपशमसे प्रकट होने वाली ज्ञानकी पर्याय माना है, इसीलिए उन्होंने सम्यग्दृष्टि जीवमें, निरन्तर, सदाकाल, स्वानुभूतिका अस्तित्व मानते हुए भी उसे लब्धि-उपयोगात्मक स्वीकार किया है। उनकी व्याख्याके अनुसार स्वानुभूतिको सम्यकत्वके साथ लब्धि रूपसे सम व्याप्ति होते हुए भी; स्वानुभूतिकी उपयोगात्मक दशाके साथ सम्यक्त्वकी विषम व्याप्ति ही बनती है। स्वानुभूति उपयोगमें निरन्तर नहीं रहती।[3]

वास्तवमें, बुद्धिपूर्वक रागद्वेषकी परिणति और शुद्धात्मानुभूति एक साथ किसी जीवको हो जाय, बात समझमें नहीं आती। पंचाध्यायीकारने भी चतुर्थ आदि गुणस्थानोंको जघन्य पद लिखा है। आचार्य ज्ञानसागर महाराजने तो आत्मोपलब्धिके तीन भेद बताये हैं—(१) आगमिक आत्मोपलब्धि, (२) मानसिक आत्मोपलब्धि, (३) केवलात्मोपब्धि। जहाँ आगमिक आत्मोपलब्धि होती है, वहाँ शुद्धात्माके विषयका श्रद्धान होता है, पर तदनुकूल आचरण नहीं रहता। अध्यात्म शैलीमें उसे सम्यग्दृष्टि नहीं कहते तथापि आगमिक उसे शुद्धात्माके श्रद्धानसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। "शुद्धात्मा तो उसे भी जागी है, अतः वह भी सम्यग्दृष्टि है।" अप्रमत्त साधुके मानसिक स्वात्मोपब्धि स्वीकार की गई है। केवल ज्ञान हो जाने पर प्रत्यक्षरूपसे आत्माकी प्राप्ति केवल आत्मोपलब्धि है।[4]

आत्मानुभूतिका सीधा सम्बन्ध संवर और निर्जरासे जोड़ा जाना चाहिये। वही उसका अभीष्ट है। निर्जरा राग-व्यापार घटने पर ही प्राप्त होती है। पण्डित टोडरमलजीने इस सम्बन्धमें लिखा है—"बहुरि

१. समयसार, गाथा ९५ की तात्पर्यवृत्ति टीका।

२. पञ्चाध्यायी, अ—२, श्लोक ४०२-३।

३. वही, श्लोक ४०४।

४. समयसार, गाथा २८९, तात्पर्यवृत्तिकी हिन्दी टीका, पृ० २४२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चौथा गुणस्थानविषैं कोई अपने स्वरूपका चिंतवन करै है, ताकै भी आश्रव बंध अधिक है, वा गुण श्रेणी निर्जरा नाहीं है। पंचम षष्ठम गुणस्थानविषैं आहार-विहारादि क्रिया होतैं, पर द्रव्य चिंतवनतैं भी, आश्रव बंध थोरा हो है वा गुणश्रेणी निर्जरा हुआ करै है। तातै स्वद्रव्य परद्रव्यका चिंतवन तैं निर्जरा बंध नाहीं। रागादिघटें निर्जरा है, रागादिक भयें बंध है।[1]

यही निराश्रव संवर-निर्जरा सम्यग्दर्शनका फल है। ग्रंथों और ग्रंथकारोंके कथन देख-सुनकर, उनपर समतापूर्वक, युक्ति, आगम और अनुमानका सहारा लेकर, उनकी विवक्षाएँ समझनेका प्रयत्न करना चाहिए। विवेकके साथ अपने भीतर समताभाव जगानेका प्रयास करना चाहिए। इसी पुरुषार्थको 'मोक्षमार्ग' बताते हुये पण्डितजीने बड़े सरल शब्दोंमें उसकी संक्षिप्त व्याख्या की है।

'तातैं बहुत कहा कहिये, जैसे रागादि मिटावनेका श्रद्धान होय, सो ही श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। बहुरि जैसें रागादि मिटावनेका जानना होय, सो ही जानना सम्यग्ज्ञान है। बहुरि जैसें रागादि मिटैं, सो ही आचरण सम्यक् चारित्र है। ऐसा ही मोक्षमार्ग मानना योग्य है।[2]

१. मोक्षमार्ग प्रकाशक, वही, अ-७, पृ० २९७।
२. वही, पृ० ३०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org